

MRS SHANTA ZUTSHI

Reg NO.- JA/NOV-OYT/
GIR/25031

Dated 21.4.81

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय !

भगवत्-गीता

(१२ वें अध्याय की व्याख्या)





56020

सत्संग भवन



56020

अम्बाला नगर-7

गीता-महिमा

'अपार दुःख और सङ्कट से भरे संसार के प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र के लिये गीता में बतलाये गये कल्याण के मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता है। उसी के द्वारा वर्तमान शोक-सन्ताप का नाश हो सकता है और व्यापक सुख, समृद्धि, शान्ति और एकता का राम-राज्य आ सकता है। आवश्यकता है गीता-ज्ञान के व्यापक प्रचार की।'

'भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अन्जान जीवों के हितार्थ एक-एक श्लोक वा श्लोक-खण्ड में गीता-तत्त्व गागर में सागर की तरह भर कर रख छोड़ा है। जरूरत है कि हम उसे अपनावें और अमलमें लावें।'

—❀❀—

दैनिक पाठ के लिये—

❀ भगवत्-गीता ❀

(बारहवें अध्याय की विस्तृत व्याख्या)

—टीकाकार—

ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका



सत्संग भवन


अम्बाला नगर-7

प्रकाशक तथा मुद्रक :–

प्रधान–श्रीगीता सत्संग सभा (Regd.)

सत्संग भवन, अम्बाला नगर–7

(प्रथम संस्करण)

जून–१९८२



मूल्य–एक रुपय





मुद्रणालय—

'हितैषी प्रैस'

सत्संग भवन

अम्बाला नगर—7



श्रीकृष्णार्पणमस्तु

❁ दो शब्द ❁

'सत्सङ्ग भवन' में गत २७ वर्षों से सर्वकल्याणकारिणी श्रीगीताजी के प्रचार-प्रसार का कार्य **'परमवन्द्य सद्गुरुदेव स्वामी श्रीगीतानन्दजी महाराज'** के निरीक्षण में सोत्साह एवं सोल्लास हो रहा है। गीताजी के पठन-पाठन, श्रवण-मनन एवं आचरण के प्रति यहाँ के गीता-प्रेमियों में एक विशेष रुचि एवं उत्साह है। यद्यपि गीताजी पर अनेकानेक टीकायें विभिन्न गीता-रहस्यकारों ने की हैं, तथापि **'गीताचार्य ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका'**की गीता-प्रैस, गोरखपुर से प्रकाशित **'गीता-तत्त्वविवेचनी'** टीका सरल, सुबोध एवं प्रश्नोत्तर रूप में होने के कारण यहाँ के गीता-प्रेमियों में अत्यधिक लोकप्रिय हो चुकी है। भक्तिमति गीता-प्रेमी जनता की प्रबल माँग एवं उनकी भक्तियोग बारहवें अध्याय के प्रति विशेष, अति विशेष रुचि को देखते हुए इसी 'गीता-तत्त्वविवेचनी' में से बारहवें अध्याय को पृथक् रूप से ग्रन्थाकार में प्रकाशित किया जा रहा है। इसे पढ़ कर आपके हृदय में अधिकाधिक भक्तिभाव जाग्रत हों—यही हमारी अन्तर्यामी भगवान्‌जी से हार्दिक प्रार्थना है।

—**'गीतानुचर'**

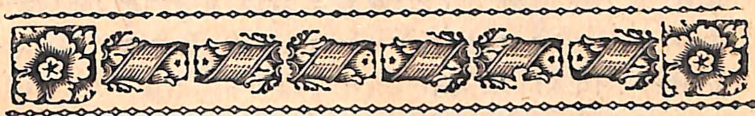
जय भगवत् गीते !

—⁂—



भगवत्-गीता

(१२वें अध्याय की व्याख्या)



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय !

—❀❀—

द्वादशोऽध्यायः

अध्याय का नाम

इस बाहरवें अध्यायमें अनेक प्रकार के साधनों सहित भगवान् की भक्ति का वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। इसका उपक्रम और उपसंहार भगवान् की भक्ति में ही हुआ है। केवल तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, वह भी भगवद्भक्ति और ज्ञानयोग की परस्पर तुलना करनेके लिये ही है; अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

अध्याय का संक्षेप

इस अध्याय के पहले श्लोकमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकारके उपासकों में कौन श्रेष्ठ है, यह जाननेके लिये अर्जुन का प्रश्न है। दूसरे में अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने सगुण-साकार के उपासकोंको युक्ततम (श्रेष्ठ) बतलाया है। तीसरे-चौथेमें निर्गुण-निराकार परमात्माके विशेषणों का वर्णन करके उस की उपासनाका फल भी

भगवत्प्राप्ति बतलाया है और पाँचवेंमें देहाभिमानी मनुष्योंके लिये निराकार की उपासना कठिन बतलायी है। छठे और सातवेंमें भगवान्‌ने यह बतलाया है कि सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके अनन्यभावसे निरन्तर मुझ सगुण परमेश्वर का चिन्तन करने वाले भक्तोंका उद्धार स्वयं मैं करता हूँ। आठवें में भगवान्‌ने अर्जुनको मन-बुद्धि अपने में अर्पण करनेके लिये आज्ञा दी है और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाया है। तदनन्तर नवेंसे ग्यारहवेंतक उपर्युक्त साधन न कर सकने पर अभ्यासयोगका साधन करने के लिये, उसमें भी असमर्थ होने पर भगवदर्थ कर्म करने के लिये और उसमें भी असमर्थ होने पर समस्त कर्मोंका फलत्याग करनेके लिये क्रमशः कहा है। बारहवेंमें कर्मफलत्यागको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसका फल तत्काल ही शान्ति की प्राप्ति होना बतलाया है। तत्पश्चात् तेरहवेंसे उन्नीसवेंतक भगवान्‌ने अपने प्रिय ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षण बतलाये हैं और बीसवेंमें उन ज्ञानी महात्मा भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर श्रद्धापूर्वक वैसा ही साधन करने वाले भक्तोंको अत्यन्त प्रिय बतलाया है।

सम्बन्ध--

दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्याय तक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्म की और सगुण-साकार परमेश्वर की उपासना की प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक तो विशेषरूपसे सगुण-साकार भगवान् की उपासना का महत्त्व दिखलाया

है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायके सतरहवेंसे छब्बीसवें श्लोक तक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उन्तीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुण-निराकार की उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान् की अनन्य भक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होने वाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार स्वरूप भगवान्के भक्त की विशेष रूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण निराकार ब्रह्म की और सगुण-साकार भगवान् की उपासना करने वाले दोनों प्रकार के उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है, इसी जिज्ञासाके अनुसार अर्जुन पूछ रहे हैं—



अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

पदच्छेद—

एवम् सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वाम् पर्युपासते ।
ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तम् तेषाम् के योगवित्तमाः ॥

शब्दार्थ—

एवम्=पूर्वोक्त प्रकार से, **सततयुक्ताः**=निरन्तर आप के भजन-ध्यान में लगे रहकर, **ये**=जो, **भक्ताः**= अनन्य प्रेमी भक्तजन, **त्वाम्**=आप सगुणरूप परमेश्वर को, **पर्युपासते**=अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, **ये**=दूसरे जो (केवल), **च**=और, **अपि**=ही, **अक्षरम्**=सच्चिदानन्दघन, **अव्यक्तम्**=निराकार ब्रह्मको, **तेषाम्**=प्रकारके उपासकों में, **के**=कौन, **योगवित्तमाः**=अति उत्तम योगवेत्ता ।

अर्थ—

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केबल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं—उन दोनों प्रकार के उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ॥१॥

-व्याख्या-

प्रश्न-'एवम्' पदका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर-'एवम्' पदसे अर्जुनने पिछले अध्यायके पचपनवें श्लोकमें बतलाये हुए अनन्य भक्तिके प्रकार का निर्देश किया है।

प्रश्न-'त्वाम्' पद यहाँ किसका वाचक है और निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उस की श्रेष्ठ उपासना करना क्या है ?

उत्तर-'त्वाम्' पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण का वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान् ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्यधाममें जो भगवान्का सगुण रूप विराजमान है-जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं-यहाँ 'त्वाम्' पदको उन सभी का वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्काम-भावसे जो समस्त इन्द्रियों को उनकी सेवा में लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उन

की श्रेष्ठ उपासना करना है ।

प्रश्न—'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ किसका वाचक है ?

उत्तर—'अक्षरम् विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है । यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उस की उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्व प्रसङ्गमें कहीं उस की उपासना का भगवान्ने विधान भी नहीं किया है ।

प्रश्न—उन दोनों प्रकार के उपासकोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ?—इस वाक्य का क्या भाव है ?

उत्तर—इस वाक्यसे अर्जुनने यह पूछा है कि यद्यपि उपर्युक्त प्रकार से उपासना करने वाले दोनों ही श्रेष्ठ हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है, तथापि उन दोनों की परस्पर तुलना करने पर दोनों प्रकार के उपासकोंमें से कौन-से उत्तम हैं—यह बतलाइये ।

—**—

सम्बन्ध-

इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर उसके उत्तरमें भगवान् सगुण-साकारके उपासकोंको उत्तम बतलाते हैं—

श्लोक-२

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

पदच्छेद—

मयि आवेश्य मनः ये माम् नित्ययुक्ताः उपासते ।
श्रद्धया परया उपेताः ते मे युक्ततमाः मताः ॥

शब्दार्थ—

मयि=मुझमें, **आवेश्य**=एकाग्र करके, **मनः**=मनको, **ये**=जो भक्तजन, **माम्**=मुझ सगुणरूप परमेश्वरको, **नित्ययुक्ताः**=निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए, **उपासते**=भजते हैं, **श्रद्धया**=श्रद्धा से, **परया**=अतिशय

श्रेष्ठ, **उपेताः**=युक्त होकर, **ते**=वे, **मे**=मुझको, **युक्ततमाः**= योगियों में अति उत्तम योगी, **मताः**=मान्य हैं ।

अर्थ-

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।

-व्याख्या-

प्रश्न-भगवान्में मनको एकाग्र करके निरन्तर उन्हींके भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी उपासना करना क्या है ?

उत्तर-गोपियों की भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेम-पूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनकी उपासना करना है ।

प्रश्न–अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धाका क्या स्वरूप है और उससे युक्त होना क्या है ?

उत्तर–भगवान् की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, वचनों में, उन की शक्तिमें; उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदि में अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्ष से भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लाद की भाँति सब प्रकार से भगवान् पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है ।

प्रश्न–'वे मुझे उत्तम योगवेत्ता मान्य हैं' इसका क्या भाव है ?

उत्तर–इस वाक्यसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों प्रकार के उपासकोंमें जो मुझ सगुण परमेश्वर के उपासक हैं, उन्हीं को मैं उत्तम योगवेत्ता मानता हूँ ।

—❀❀—

सम्बन्ध–

पूर्व श्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकों को उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इस पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं ? इस पर कहते हैं–

श्लोक-३-४

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

पदच्छेद-

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् पर्युपासते ।
सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् च कूटस्थम् अचलम् ध्रुवम् ॥
संनियम्य इन्द्रियग्रामम् सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति माम् एव सर्वभूतहिते रताः ॥

शब्दार्थ—

ये=जो पुरुष, **तु**=परन्तु, **अक्षरम्**=अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको, **अनिर्देश्यम्**=अकथनीयस्वरूप, **अव्यक्तम्**=निराकार, **पर्युपासते**=निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, **सर्वत्रगम्**=सर्वव्यापी, **अचिन्त्यम्**=मन-बुद्धि से परे, **च**=और, **कूटस्थम्**=सदा एकरस रहने वाले, **अचलम्**=अचल, **ध्रुवम्**=नित्य ।

संनियम्य=भली प्रकारसे वशमें करके, **इन्द्रियग्रामम्**=इन्द्रियोंके समुदायको, **सर्वत्र**=सबमें, **समबुद्धयः**= समानभाव वाले योगी, **ते**=वे **प्राप्नुवन्ति**=प्राप्त होते हैं, **माम्**=मुझको, **एव**=ही, **सर्वभूतहिते**=सम्पूर्ण भूतोंके हित में, **रताः**=रत (और)

अर्थ—

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाव वाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥३-४॥

—व्याख्या—

प्रश्न—'अचिन्त्यम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो मन-बुद्धिका विषय न हो, उसे 'अचिन्त्य' कहते हैं।

प्रश्न—'सर्वत्रगम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो आकाश की भाँति सर्वव्यापी हो, कोई

भी जगह जिससे खाली न हो, उसे 'सर्वत्रग' कहते हैं।

प्रश्न–'अनिर्देश्यम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो–किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं।

प्रश्न–'कूटस्थम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जिसका कभी किसी भी कारणसे परिवर्तन न हो, जो सदा एक-सा रहे, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

प्रश्न–'ध्रुवम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकार का संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं।

प्रश्न–'अचलम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो हलन-चलन की क्रियासे सर्वथा रहित हो उसे 'अचल' कहते हैं।

प्रश्न–'अव्यक्तम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर–जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो

अर्थात् जो इन्द्रियों द्वारा जानने में न आ सके, जिस का कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं।

प्रश्न-'अक्षरम्' का क्या अर्थ है ?

उत्तर-जिसका कभी किसी भी कारण से विनाश न हो, उसे 'अक्षर' कहते हैं।

प्रश्न-इन सब विशेषणोंके प्रयोग का क्या भाव है और उस ब्रह्म की श्रेष्ठ उपासना क्या है ?

उत्तर-उपर्युक्त विशेषणोंसे निर्गुण-निराकार ब्रह्म के स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है; इस प्रकार उस परब्रह्मका उपर्युक्त स्वरूप समझकर अभिन्न भाव से निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस की उत्तम उपासना करना है।

प्रश्न-'सर्वभूतहिते रताः का क्या भाव है ?

उत्तर-'सर्वभूतहिते रताः' से यह भाव दिखलाया है कि जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकों का सम्पूर्ण प्राणियोंमें आतमभाव हो जाने के कारण वे समान भाव से सबके हितमें रत रहते हैं।

प्रश्न–'सर्वत्र समबुद्धयः' का क्या भाव है ?

उत्तर–इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकार से निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना करने वालों की कहीं भेद-बुद्धि नहीं रहती। समस्त जगत्में एक ब्रह्मसे भिन्न किसी की सत्ता न रहने के कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

प्रश्न–वे मुझे ही प्राप्त होते हैं—इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर–इस कथनसे भगवान्ने ब्रह्मको अपने से अभिन्न बतलाया है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त उपासना का फल जो निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ। वह ब्रह्म मैं ही हूँ, यही भाव भगवान्ने चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो ही प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, इस कथनसे दिखलाया है।

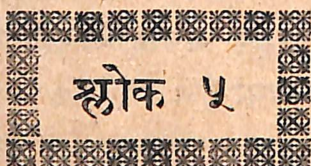
प्रश्न–जब दोनों को ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है, तब फिर दूसरे श्लोकमें सगुण उपासकों को श्रेष्ठ बतलाने का क्या भाव है ?

उत्तर—ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि अनन्यभक्तिके द्वारा मनुष्य मुझे देख सकता है, तत्त्व से जान सकता है और प्राप्त कर सकता है(११।५४) इससे मालूम होता है कि परमात्माको तत्त्वसे जानना और प्राप्त होना—ये दोनों तो निर्गुण-उपासकके लिये भी समान ही हैं; परन्तु निर्गुण-उपासकों को सगुण-रूप में दर्शन देने के लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं और सगुण-उपासकको भगवान् के दर्शन भी होते हैं—यही उसकी विशेषता है।



सम्बन्ध—

इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फल का प्रतिपादन करते के पश्चात् अब देहाभिमानियों के लिये अव्यक्त गति की प्राप्ति को कठिन बतलाते हैं—



क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

पदच्छेद—

क्लेशः अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिः दुःखम् देहवद्भिः अवाप्यते ॥

शब्दार्थ—

क्लेशः=परिश्रम, **अधिकतरः**=विशेष है, **तेषाम्**=उन; **अव्यक्तासक्तचेतसाम्**=सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के साधन में; **अव्यक्ता**=अव्यक्तविषयक; **हि**=क्योंकि; **गतिः**=गति; **दुःखम्**=दुःखपूर्वक; **देहवद्भिः**=देहाभिमानियों के द्वारा; **अवाप्यते**=प्राप्त की जाती है ।

—अर्थ—

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है

-व्याख्या-

प्रश्न–'तेषाम्' पदके सहित 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद किनका वाचक है ? और उनको परिश्रम अधिक

है, इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर-पूर्व श्लोकों में जिन निर्गुण-उपासकों का वर्णन है, जिनका मन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द-घन ब्रह्ममें ही आसक्त है-उनका वाचक यहाँ 'तेषाम्' के सहित 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद है। उनको परिश्रम अधिक है, यह कहकर भगवान् ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्म का तत्त्व बड़ा ही गहन है, जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीर में अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है, साधारण मनुष्यों की समझ में यह नहीं आता। इसलिये निर्गुण-उपासना के साधक के आरम्भकाल में परिश्रम अधिक होता है।

प्रश्न-देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर-उपर्युक्त कथन से भगवान् ने पूर्वार्द्ध में बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि देह में अभिमान रहते निर्गुणब्रह्म का तत्त्व समझ में आना बहुत कठिन है। इसलिये जिनका

शरीरमें अभिमान है उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रम से प्राप्त होती है।

प्रश्न—यहाँ तो अव्यक्त की उपासना में अधिकतर परिश्रम बतलाया है और नवें अध्याय के दूसरे श्लोक में 'कर्तुम्' 'सुसुखम्' पदों से ज्ञान-विज्ञान को सुगम बतलाकर चौथे, पांचवें और छठे श्लोकों में अव्यक्त का ही वर्णन किया है, अतः दोनों जगह के वर्णन में जो विरोध-सा प्रतीत होता है, इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—विरोध नहीं है, क्योंकि नवें अध्याय में 'ज्ञान' और 'विज्ञान' शब्द सगुण भगवान् के गुण, प्रभाव और तत्त्व से विशेष सम्बन्ध रखते हैं; अतः वहाँ सगुण निराकार की उपासना को ही करने में सुगम बतलाया है। वहाँ चौथे श्लोक में आया हुआ 'अव्यक्त' शब्द सगुण-निराकार का वाचक है, इसी-लिये उसे समस्त भूतों को धारण-पोषण करने वाला, सबमें व्याप्त और वास्तव में असङ्ग होते हुए भी सब की उत्पत्ति आदि करने वाला बतलाया है।

प्रश्न—छठे अध्याय के २४वें से २७वें श्लोक तक

निर्गुण-उपासना का प्रकार बतलाकर २८वें श्लोक में उस प्रकार का साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्म-प्राप्तिरूप अत्यन्तानन्द का लाभ होना बतलाया है, उसकी संगति कैसे बैठेगी ?

उत्तर—वहाँ का वर्णन, जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो ब्रह्मभूत हो गया है अर्थात जो ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियों के लिये नहीं। अतः उसको सुखपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति बतलाना उचित है।

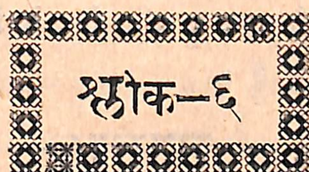
प्रश्न—क्या निर्गुण-उपासकों को ही साधनकाल में अधिक परिश्रम होता है, सगुण-उपासकों को नहीं होता ?

उत्तर—सगुण-उपासकों को नहीं होता। क्योंकि एक तो सगुण की उपासना सुगम है, दूसरे वे भगवान् पर ही निर्भर रहते हैं; इसलिये स्वयं भगवान् उन को सब प्रकार से सहायता करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको परिश्रम कैसे हो ?

—**—

सम्बन्ध-

इस प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना से देहाभिमानियों के लिये परमात्मा प्राप्ति कठिन बतलाने के उपरान्त अब दो श्लोकों द्वारा सगुण परमेश्वर की उपासना से परमेश्वर की प्राप्ति शीघ्र और अनायास होने की बात कहते हैं—



श्लोक-६

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।

पदच्छेद-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येन एव योगेन माम् ध्यायन्तः उपासते ।।

शब्दार्थ-

ये-जो, **तु**-परन्तु, **सर्वाणि**-सम्पूर्ण; **कर्माणि**-कर्म को; **मयि**-मुझ में; **संन्यस्य**-अर्पण करके; **मत्पराः**-मेरे परायण रहने वाले भक्तजन; **अनन्येन**-

अनन्य; **एव**–ही; **योगेन**–भक्तियोग से; **माम्**–मुझ सगुणरूप परमेश्वर को; **ध्यायन्तः**–निरन्तर चिन्तन करते हुए; **उपासते**–भजते हैं।

अर्थ—

परन्तु जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।

—व्याख्या—

प्रश्न—'तु' पद का यहाँ क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–'तु' पद यहाँ निर्गुण-उपासकों की अपेक्षा सगुण-उपासकों की विलक्षणता दिखलानेके लिये है।

प्रश्न–भगवान् के परायण होना क्या है ?

उत्तर–भगवान् पर निर्भर होकर भाँति-भाँति के दुःखों की प्राप्ति होने पर भी भक्त प्रह्लाद की भाँति निर्भय और निर्विकार रहना; उन दुःखों को भगवान् का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान् को ही परम प्रेमी, परम गति, परम

सुहृद् और सब प्रकार से शरण लेने योग्य समझकर अपने-आपको भगवान् के समर्पण कर देना—यही भगवान् के परायण होना है।

प्रश्न–सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान् के समर्पण करना क्या है?

उत्तर—कर्मों के करने में अपने को पराधीन समझकर भगवान् की आज्ञा और संकेत के अनुसार कठपुतली की भाँति समस्त कर्म करते रहना; उन कर्मों में न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना; शास्त्र-अनुकूल प्रत्येक क्रिया में ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करने की शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझ से समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मों का भगवान् के समर्पण करना है।

प्रश्न–अनन्य भक्तियोग क्या है? और उसके द्वारा भगवान् का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना क्या है?

उत्तर–एक परमेश्वर के सिवा मेरा कोई नहीं है,

वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान् में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धा से युक्त अनन्य प्रेम करना है—जिस प्रेम में स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचार का जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किञ्चित् अंश भी भगवान् से भिन्न वस्तु में नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्र की भी भगवान् की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेम को 'अनन्य भक्तियोग' कहते हैं। और ऐसे भक्तियोग द्वारा निरन्तर भगवान् का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओं का श्रवण, कीर्तन, उनके नामों का उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्य भक्तियोग के द्वारा भगवान् का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है।



तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

पदच्छेद—

तेषाम् अहम् समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मयि आवेशितचेतसाम् ।।

शब्दार्थ—

तेषाम्—उन, **अहम्**—मैं, **समुद्धर्ता**—उद्धार करने वाला; **मृत्युसंसारसागरात्**—मृत्युरूप संसार-समुद्र से; **भवामि**—होता हूँ; **नचिरात्**—शीघ्र ही; **पार्थ**—हे अर्जुन ! **मयि**—मुझ में; **आवेशितचेतसाम्**—चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का ।

अर्थ—

हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ ।

—व्याख्या—

प्रश्न—'तेषाम्' पद के सहित 'मय्यावेशित-चेतसाम्' पद किनका वाचक है ?

उत्तर—पिछले श्लोक में मन-बुद्धि को सदा के लिये भगवान्में लगा देने वाले जिन अनन्यप्रेमी सगुण

उपासकों का वर्णन आया है, उन्हीं प्रेमी भक्तों का वाचक यहाँ 'तेषाम्' के सहित 'मय्यावेशितचेतसाम्' पद है।

प्रश्न–'मृत्युरूप संसारसागर' क्या है? और उससे भगवान् का उपर्युक्त भक्त को शीघ्र ही उद्धार कर देना क्या है?

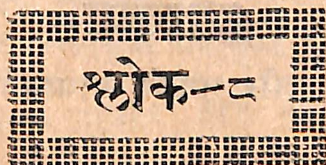
उत्तर–इस संसार में सभी कुछ मृत्युमय है; इस में पैदा होने वाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभर के लिये भी मृत्यु के थपेड़ों से बचती हो। और जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरङ्गें उठा करती हैं। समुद्र की लहरों की गणना चाहे हो जाय, पर जब तक परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती, तबतक जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा—इस की गणना नहीं हो सकती। इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसार-सागर' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से मन-बुद्धि को भगवान्में लगा कर जो भक्त निरन्तर भगवान् की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये

छुड़ाकर यहीं अपनी प्राप्ति करा देते हैं अथवा मरने के बाद अपने परमधाममें ले जाते हैं—यहाँ तक कि जैसे केवट किसी को नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौका पर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर उस की समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसारसमुद्रके उस पार अपने परमधाममें ले जाते हैं। यही भगवान्का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है।

सम्बन्ध--

इस प्रकार पूर्व श्लोकोंमें निर्गुण-उपासना की सुगमताका प्रतिपादन किया गया। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करने की आज्ञा देते हैं—



मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

पदच्छेद—

मयि एव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिम् निवेशय ॥
निवसिष्यसि मयि एव अतः ऊर्ध्वम् न संशयः ॥

शब्दार्थ—

मयि=मुझमें, एव=ही, मनः=मनको, आधत्स्व=लगा (और) मयि=मुझमें, बुद्धिम्=बुद्धिको, निवेशय=लगा, निवसिष्यसि=निवास करेगा, मयि=मुझ में, एव=ही, अतः=इसके, ऊर्ध्वम्=उपरान्त, न=नहीं है, संशयः=संशय ॥

अर्थ—

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

-व्याख्या-

प्रश्न–बुद्धि और मनको भगवानमें लगाना किसे कहते हैं ?

उत्तर–जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्यक्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता,

सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं—उन परम दिव्य प्रेममय और आनन्दमय, सर्व-शक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भली भाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय देखना—यही बुद्धिको भगवान्में लगाना है। तथा इस प्रकार अपने प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकार से उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्में लगाना है।

इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न-भगवान्में मन-बुद्धि लगाने पर यदि मनुष्य को निश्चय ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर सब लोग भगवान् में मन-बुद्धि क्यों नहीं लगाते ?

उत्तर-गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भगवान्में श्रद्धा-प्रेम नहीं होता और अज्ञान-जनित आसक्तिके कारण साँसारिक

विषयोंका चिन्तन होता रहता है। संसारमें अधिकांश लोगों की यही स्थिति है, इसीसे सब लोग भगवान्में मन-बुद्धि नहीं लगाते।

प्रश्न–जिस अज्ञानजनित आसक्तिसे लोगोंमें साँसारिक भोगोंके चिन्तन की बुरी आदत पड़ रही है, उसके छूटने का क्या उपाय है ?

उत्तर–भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जानने और मानने से यह आदत छूट सकती है।

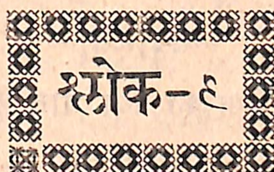
प्रश्न–भगवान्के गुण, प्रभाव लीलाके तत्त्व और रहस्यका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर–भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जानने वाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमाद को छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करनेसे उनका ज्ञान हो सकता है।

सम्बन्ध–

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि मैं उपर्युक्त

प्रकार से आपमें मन-बुद्धि न लगा सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये ? इस पर कहते हैं—



अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

पदच्छेद—

अथ चित्तम् समाधातुम् न शक्नोषि मयि स्थिरम्
अभ्यासयोगेन ततः माम् इच्छ आप्तुम् धनंजय ।

शब्दार्थ—

अथ=यदि (तू), **चित्तम्**=मन को, **मयि**=मुझ में **स्थिरम्**=अचल, **समाधातुम्**=स्थापन करने के लिये, **न**, **शक्नोषि**=समर्थ नहीं है, **ततः**-तो, **धनञ्जय**-हे अर्जुन !, **अभ्यासयोगेन**-अभ्यासरूप योगके द्वारा, **माम्**-मुझको, **आप्तुम्**-प्राप्त होने के लिये, **इच्छ**-इच्छा कर ।

अर्थ—

यदि तू मन को मुझसें अचल स्थापन करने के

लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योग के द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिये इच्छा कर ।

–व्याख्या–

प्रश्न–इस श्लोक का क्या भाव है ?

उत्तर–भगवान् अर्जुन को निमित्त बना कर समस्त जगत् के हितार्थ उपदेश कर रहे हैं । संसार में सब साधकों की प्रकृति एक-सी नहीं होती, इसी कारण सब के लिये एक साधन उपयोगी नहीं हो सकता । विभिन्न प्रकृतिके मनुष्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन ही उपयुक्त होते हैं । अतएव भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त प्रकार से मुझमें मन और बुद्धि के स्थिर स्थापन करने में अपने को असमर्थ समझते हो, तो तुम्हें अभ्यासयोग के द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिये ।

प्रश्न–अभ्यासयोग किसे कहते हैं और उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिये इच्छा करना क्या है ?

उत्तर–भगवान् की प्राप्ति के लिये भगवान् में नाना प्रकार की युक्तियों से चित्त को स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग'

कहते हैं। भगवान् के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदि में साधक की श्रद्धा और प्रेम हो—उसी में केवल भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से ही बार-बार मन लगाने के लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोग के द्वारा भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा करना है।

भगवान् में मन लगानेके साधन शास्त्रों में अनेकों प्रकार के बतलाये गये हैं, उनमें से निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारण के लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्य के सामने आँखें मूँदने पर मनके द्वारा सर्वत्र समभाव से जो एक प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत होता है, उससे भी हज़ारों गुना अधिक प्रकाश का पुञ्ज भगवत्स्वरूप में है—इस प्रकार मन से निश्चय कर के परमात्मा के उस तेजोमय ज्योतिस्वरूपमें चित्त लगाने के लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जैसे दियासलाई में अग्नि व्यापक है वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं यह समझ कर जहाँ-जहाँ मन जाये वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्व-शक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वर के स्वरूप का प्रेम-

पूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाये, वहाँ-वहाँ से उसे हटा कर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों—उनकी मानसिक या धातु आदि से निर्मित मूर्ति में अथवा चित्रपट में या उनके नाम-जप में श्रद्धा और प्रेम के साथ पुन-पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना।

(४) भ्रमरके गुंजार की तरह एकतार ओङ्कार की ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभाव के रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना।

(७) चौथे अध्याय के उन्तीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना।

इनमें से कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और

विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकों की स्थिति, अधिकार तथा साधन-की गतिके तारतम्यसे फल की प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है। अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊब कर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये। बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये।

सम्बन्ध--

यहाँ यह जिज्ञासा हीती है कि यदि इस प्रकार अभ्यासयोग भी मैं न कर सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इस पर कहते हैं—

श्लोक-१०

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

पदच्छेद—

अभ्यासे अपि असमर्थः असि मत्कर्मपरमः भव ।
मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥

शब्दार्थ—

अभ्यासे=अभ्यासमें, **अपि**=भी, **असमर्थः**=असमर्थ, **असि**=है (तो केवल), **मत्कर्मपरमः**=मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण, **भव**—हो जा, **मदर्थम्**—मेरे निमित्त, **अपि**—भी, **कर्माणि**—कर्मोंको, **कुर्वन्**—करता हुआ, **सिद्धिम्**—मेरे प्राप्तिरूप सिद्धिको, **अवाप्स्यसि**—प्राप्त होगा ।

अर्थ—

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा ॥

--व्याख्या--

प्रश्न—यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है—इस कथन का क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान् ने यह भाव दिखलाया है

कि यद्यपि तुम्हारे लिये वस्तुतः मन लगाना या उपर्युक्त प्रकार से अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्ति करना कोई कठिन बात नहीं है, तथापि यदि तुम अपने को इसमें असमर्थ मानते हो तो कोई बात नहीं; मैं तुम्हें तीसरा उपाय बतलाता हूँ। स्वभाव-भेद से भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन ही उपयोगी हुआ करते हैं।

प्रश्न–'मत्कर्म' शब्द कौन-से कर्मोंका वाचक है और उनके परायण होना क्या है ?

उत्तर–यहाँ 'मत्कर्म' शब्द उन कर्मोंका वाचक है जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्-सेवा-पूजा विषयक होते हैं; तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदि का सम्बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोक में भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान् को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हीं की प्रसन्नता के लिये परम श्रद्धा और अनन्य प्रेमके साथ मन,

वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है।

प्रश्न–मेरे लिये कर्म करता हुआ भी मेरी प्राप्ति-रूप सिद्धिको प्राप्त हो जायगा—इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ?

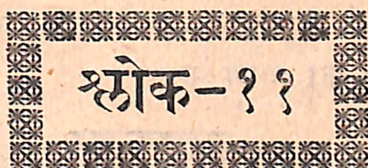
उत्तर–इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करने वालों को मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करने वालों को भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनों की अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

—**—

सम्बन्ध—

यहाँ अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि उपर्युक्त प्रकार से आपके लिये मैं कर्म भी न कर

सकूँ तो मुझे क्या करना चाहिये। इसपर कहते हैं—



श्लोक-११

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

पदच्छेद—

अथ एतत् अपि अशक्तः असि कर्तुम् मद्योगम् आश्रितः सर्वकर्मफलत्यागम् ततः कुरु यतात्मवान् ॥

शब्दार्थ—

अथ=यदि, **एतत्**=उपर्युक्त साधनको, **अपि**=भी, **अशक्तः**=असमर्थ, **असि**=है, **कर्तुम्**=करने में, **मद्योगम्**=मेरी प्राप्तिरूप योगके, **आश्रितः**=आश्रित होकर, **सर्वकर्मफलत्यागम्**=सब कर्मोंके फलका त्याग, **ततः**=तो, **कुरु**=कर, **यतात्मवान्**=मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर।

अर्थ—

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर

उपर्युक्त साधनको करने में भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला हो कर सब कर्मों के फल का त्याग कर।

--व्याख्या--

प्रश्न--यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधन करने में भी तू असमर्थ है--इस वाक्यका क्या अभिप्राय है?

उत्तर--इस वाक्य से भगवान् ने यह भाव दिखलाया है कि वास्तव में उपर्युक्त प्रकार से भक्तियुक्त कर्मयोग का साधन करना तुम्हारे लिये कठिन नहीं सुगम है। तथापि यदि तुम उसे कठिन मानते हो तो मैं तुम्हें अब एक अन्य प्रकार का साधन बतलाता हूँ।

प्रश्न--'यतात्मवान्' किसको कहते हैं? और अर्जुन को 'यतात्मवान्' होने के लिये कहने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर--'आतमा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सहित शरीर का वाचक है; अतः जिसने मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सहित शरीर पर विजय प्राप्त कर ली

हो, उसे 'यतात्मवान्' कहते हैं। मन और इन्द्रिय आदि यदि वश में नहीं होते तो वे मनुष्य को बलात्कार से भोगों में फँसा देते हैं और ऐसा होने पर समस्त कर्मों के फलरूप भोगों की कामना और आसक्ति का त्याग नहीं हो सकता। अतएव 'सर्वकर्म-फलत्याग के साधन में आत्मसंयम की परमावश्यकता समझकर यहाँ अर्जुनको 'यतात्मवान्' बननेके लिये कहा गया है।

प्रश्न–छठेसे लेकर दसवें श्लोकतक बतलाये हुए साधनों में 'यतात्मवान्' होनेके लिये न कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–छठे, सातवें और आठवें श्लोकोंमें अनन्य भक्तियोगके साधकोंका वर्णन है; वैसे अनन्यप्रेमी भक्तों का संसारके भोगोंमें प्रेम न रहनेके कारण उनके मन, बुद्धि आदि स्वाभाविक ही संसारसे विरक्त रहकर भगवान्में लगे रहते है, इस कारण उन श्लोकोंमें यतात्मवान् होनेके लिये नहीं कहा गया।

नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान् में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन

हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं, इस कारणसे वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहने की आवश्यकता नहीं है। और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोग का वर्णन है, उसमें भगवान्का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं। अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजननीय नहीं है। परन्तु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोग का साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रक्खे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें न हों तो उन की भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होने पर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता। इसलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदि को वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है।

प्रश्न—सर्वकर्म' शब्द यहाँ किन कर्मोंका वाचक है और उनका फलत्याग करना क्या है ?

उत्तर—यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार

जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जाने वाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंका वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द है; उन कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगों की प्राप्तिरूप जो उनका फल है—उसमें ममता, आसक्ति और कामना का सर्वथा त्याग कर देना ही सर्वकर्मोंका फलत्याग करना है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होने के कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्य का सब तरह से पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्याग का तो प्रसङ्ग ही कैसे आ सकता है?

प्रश्न—भगवान्ने पहले मन-बुद्धिको अपने में लगाने के लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्म-फलत्याग के लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होने पर दूसरे

का आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्का इस प्रकार का यह कथन फलभेद की दृष्टिसे है अथवा एक की अपेक्षा दूसरे को सुगम बतलानेके लिये है या अधिकारिभेदसे है ?

उत्तर—न तो फलभेद की दृष्टिसे है, क्योंकि सभी का एक ही फल भगवत्प्राप्ति है; और न एक की अपेक्षा दूसरे को सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं है। जो साधन एक के लिये सुगम है, वही दूसरे के लिये कठिन हो सकता है। इस विचार से यह समझ में आता है कि इन चारों साधनों का वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

प्रश्न—इन चारों साधनोंमें से कौन-सा साधन कैसे मनुष्यके लिये उपयोगी है ?

उत्तर—जिस पुरुषमें सगुण भगवान्के प्रेम की प्रधानता है, जिस की भगवान्में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्य की बातें तथा उनकी लीला का वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ

साधन सुगम और उपयोगी है । जिस पुरुषका भगवान् में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है किन्तु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृति वाले पुरुषके लिये नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

जिस पुरुष को सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वन्भाविक प्रेम है और भगवान् की प्रतिमादि की सेवा-पूजा करने में जिस की श्रद्धा है–ऐसे पुरुषके लिये दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

और जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करने में ही जिस का स्वाभाविक प्रेम है तथा कर्मोंमें श्रद्धा और रुचि अधिक होनेके कारण जिसका मन नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमें भी नहीं लगता—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है ।

प्रश्न—छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—इन तीनों प्रकार के साधनों में क्या भेद है ? तीनोंका फल अलग-अलग है या एक ?

उत्तर—समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना भगवान् के लिये समस्त कर्म करना और सब कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं; और तीनों का ही फल परमेश्वर की प्राप्ति है, अतएव फल में किसी प्रकार का भेद नहीं है। केवल साधकों की भावना और उनके साधन की प्रणाली के भेदसे इन का भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्ति की प्रधानता है, सर्व-कर्मफलत्यागमें केवल फल-त्याग की प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है।

सर्वकर्म भगवान् के अर्पण कर देने वाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान् के हाथ की कठपुतली हूँ,

मुझमें कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं है; मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान् के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मों से और उनके फल से मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार के भावसे उस साधक का कर्मों में और उनके फल में किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता, उसे जो कुछ भी प्रारब्धानुसार सुख-दुःखोंके भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझ कर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव हो कर उसे शीघ्र ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करने वाला मनुष्य पूर्वोक्त साधक की भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उन की आज्ञाका पालन करना ही मेरा कर्तव्य है। अतएव वह भगवान् को समस्त जगत् में व्याप्त समझ कर उन की आज्ञा के अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रम के

अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाह के समस्त कर्म तथा भगवान् की पूजा-सेवादि के कर्मों में लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान् के आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्य से होती है (११। ५५). अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलों में उसकी आसक्ति और कामना का अभाव हो कर उसे शीघ्र ही भगवान् की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सर्वकर्मों के फल का त्याग' करने वाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान् के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार है, उसके फलमें नहीं, (२। ४७ से ५१ तक) अतः किसी प्रकार का फल न चाह कर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रम के अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाह के खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मों को करना ही मेरा कर्तव्य है। अतएव वह समस्त कर्मों के फलरूप इस लोक और परलोक के भोगों में ममता, आसक्ति और कामना का सर्वथा त्याग कर देता है (१८। ९); इस

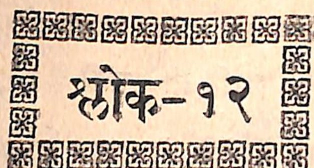
से उसमें राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधन का भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होने पर भी साधकों की मान्यता और साधन-प्रणाली में भेद होने के कारण तीन तरह के साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।



सम्बन्ध–

छठे श्लोक से आठवें तक अनन्य ध्यान का फल-सहित वर्णन करके नवें से ग्यारहवें श्लोक तक एक प्रकार के साधन में असमर्थ होने पर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्त में 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन का वर्णन किया गया, इससे यह शंका हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनों की अपेक्षा निम्न श्रेणी का होगा; अतः ऐसी शंका को हटाने के लिये कर्मफल के त्याग का महत्त्व अगले श्लोक में बतलाया जाता है—



श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

पदच्छेद-

श्रेयः हि ज्ञानम् अभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् ॥

शब्दार्थ-

श्रेयः-श्रेष्ठ है, **हि**-क्योंकि, **ज्ञानम्**-ज्ञान; **अभ्यासात्**-अभ्यास से; **ज्ञानात्**-ज्ञान से; **ध्यानम्**-मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान; **विशिष्यते**-श्रेष्ठ है (और); **ध्यानात्**-ध्यान से (भी); **कर्मफलत्यागः**-सब कर्मोंके फलका त्याग (श्रेष्ठ है); **त्यागात्**-त्याग से; **शान्तिः**-परम शान्ति होती है; **अनन्तरम्**-तत्काल ही ।

अर्थ—

मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान

श्रेष्ठ है, ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है।

—व्याख्या—

प्रश्न—यहाँ 'अभ्यास' शब्द किसका वाचक है और 'ज्ञान' शब्द किसका ? तथा अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहाँ 'अभ्यास' शब्द नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोग में से केवल अभ्यासमात्र का वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदि के लिये बार-बार की जाने वाली ऐसी चेष्टाओं का नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फल का त्याग ही है। अभिप्राय यह है कि नवें श्लोक में जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञान का फल भगवत्प्राप्ति की इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यास के साथ ज्ञान की तुलना करना और उस

की अपेक्षा अभ्यासरहित ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्सङ्ग और शास्त्र से उत्पन्न उस विवेकज्ञान का वाचक है जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगों की अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातों को भी समझता है; परन्तु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफल की इच्छा का त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों उस ज्ञान के साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफल के त्याग का तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यान को तथा कर्मफल के त्याग को श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थान पर भगवत्प्राप्ति में सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभाव के सम्बन्ध से दोनों के द्वारा ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। तथापि दोनों की परस्पर तुलना की जाने पर अभ्यास की

अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्-प्राप्ति में उतना सहायक नहीं हो सकता जितना कि अभ्यासहीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्ति की इच्छा का हेतु है। यही बात दिखलाने के लिये यहाँ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है।

प्रश्न—यहाँ 'ध्यान' शब्द किसका वाचक है और उसे ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठे से आठवें श्लोक तक बतलाये हुए ध्यानयोग में से केवल ध्यान-मात्र का वाचक है अर्थात् उपास्य देव मानकर सकाम भाव से केवल मन-बुद्धि को भगवान् के साकार या निराकार किसी भी स्वरूप में स्थिर कर देने का वाचक है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगों की कामना का त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह कि उस ध्यानयोग में जो समस्त कर्मों का भगवान् के समर्पण कर देना, भगवान् को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेम से भगवान् का

ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इस में नहीं हैं। क्योंकि भगवान् को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्काम भाव से किया जाने वाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफल के त्याग का अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञान की तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्याग को श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

पहले प्रश्नके उत्तर में बतलाया हुआ विवेकज्ञान और उपर्युक्त ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्काम-भाव के सम्बन्ध से परमात्मा की प्राप्ति करा देने वाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान् की प्राप्ति में सहायक हैं। परन्तु दोनों की परस्पर तुलना करने पर ध्यान और अभ्यास से रहित ज्ञान की अपेक्षा विवेकरहित ध्यान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यास के केवल विवेकज्ञान भगवान् की प्राप्ति में उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना बिना विवेकज्ञान के केवल ध्यान हो सकता है। ध्यान द्वारा चित्त स्थिर होने पर चित्त की मलिनता और चञ्चलता का नाश होता है; परन्तु केवल जानकारी

से वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलाने के लिये ज्ञान से ध्यान को श्रेष्ठ बतलाया गया है।

प्रश्न–'कर्मफलत्याग' किसका वाचक है और उसे ध्यान से श्रेष्ठ बतलाने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर–११वें श्लोक में जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसी का वाचक 'कर्मफल-त्याग' है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्मा की प्राप्ति में सहायक है; परन्तु जबतक मनुष्य की कामना और आसक्ति का नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्मा की प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्ति के त्याग से रहित ध्यान परमात्मा की प्राप्ति में उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मों में फल और आसक्ति का त्याग हो सकता है।

प्रश्न–त्याग से तत्काल शान्ति मिल जाती है, इस कथन का क्या भाव है?

उत्तर—इस कथन से भगवान् ने यह भाव दिखलाया है कि कर्मफलरूप इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में ममता, आसक्ति और कामना का

सर्वथा त्याग होनेसे मनुष्यको तत्काल ही परमेश्वरकी हो जाती है; फिर विलम्ब का कोई भी कारण नहीं रह जाता। क्योंकि विषयासक्ति ही मनुष्य को बाँधने वाली है, इसका नाश होने के बाद भगवान् उससे छिपे नहीं रह सकते।

इस श्लोक में अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोग का तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनों में कर्मफलरूप भोगों की आसक्ति का त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफल के त्याग का महत्त्व दिखलाने के लिये अभ्यास ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो कि संसार के झंझटों अलग रहकर किये जाते हैं और क्रिया की दृष्टि से एक की अपेक्षा दूसरा क्रम से सात्त्विक और निवृत्तिपरक होने के नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफल के त्याग को भाव की प्रधानता के कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नति में क्रिया की अपेक्षा भाव का ही अधिक महत्त्व है। वर्णाश्रम के अनुसार यज्ञ, दान,

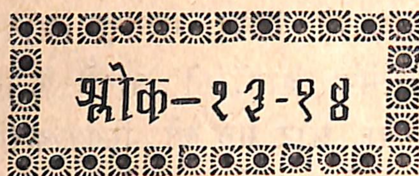
युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाह की क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यास की क्रिया; सत्सङ्ग और शास्त्रों के द्वारा आध्यात्मिक बातों को जानने के लिये ज्ञान-विषयक क्रिया और मन को स्थिर करने के लिये ध्यानविषयक क्रिया--ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने पर भी उनमें से वही श्रेष्ठ है जिसके साथ कर्मफल का त्यागरूप वैराग्य है; क्योंकि संसार में वैराग्य और भगवान् में अनन्य प्रेम से ही भगवान् की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतः कर्मफल का त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रिया के साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखने में साधारण होने पर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

सम्बन्ध—

उपर्युक्त श्लोकों में भगवान् की प्राप्ति के लिये भक्ति के अङ्गभूत अलग-अलग साधन बतलाकर उन का फल परमेश्वर की प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान् को प्राप्त हुए प्रेमी भक्तों के लक्षण जानने की इच्छा होने पर अब सात श्लोकों में भगवत्प्राप्त

ज्ञानी भक्तों के लक्षण बतलाये जाते हैं—

—**—



श्लोक-१३-१४

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणा एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

पदच्छेद-

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुणः एव च ।
निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततम् योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मयि अर्पितमनोबुद्धिः यः मद्भक्तः सः मे प्रियः ॥

शब्दार्थ-

अद्वेष्टा—द्वेष-भाव से रहित, **सर्वभूतानाम्**—सब भूतों में, **मैत्रः**—स्वार्थरहित सबका प्रेमी; **करुणः**—हेतु रहित दयालु है; **एव**—तथा; **च**—और; **निर्ममः**—ममता

से रहित; **निरहंकारः**–अहंकार से रहित; **समदुःख-सुखः**–सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम; (और) **क्षमी**–क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है; (तथा जो)

संतुष्टः–संतुष्ट है, **सततम्**–निरन्तर, **योगी**–योगी; **यतात्मा**–मन-इन्द्रियोंसहित शरीर को वश में किये हुए है (और) **दृढनिश्चयः**–मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है; **मयि**–मुझमें; **अर्पितमनोबुद्धिः**–अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला; **मद्भक्तः**–मेरा भक्त; **सः**–वह; **मे**–मुझ को; **प्रियः**–प्रिय है।

अर्थ—

जो पुरुष सब भूतों में द्वेष-भाव से रहित, स्वार्थ-रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहङ्कार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देने वाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वशमें किये हुए है, और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला मेरा भक्त मुझ

को प्रिय है ।

—व्याख्या—

प्रश्न—'सर्वभूतानाम्' पद किससे सम्बन्ध रखता है ?

उत्तर—प्रधानरूप से तो इसका सम्बन्ध 'अद्वेष्टा' के साथ है, किंतु अनुवृत्ति से यह 'मैत्रः' और 'करुणः' के साथ भी सम्बद्ध है । भाव यह है कि समस्त भूतों के प्रति उसमें केवल द्वेष का अभाव ही नहीं, बल्कि उनके प्रति उसमें स्वाभाविक ही हेतुरहित 'मैत्री' और 'दया' भी है ।

प्रश्न—सिद्ध पुरुष का तो सबमें समभाव हो जाता है, फिर उसमें मैत्री और करुणा के विशेष भाव कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—भक्ति के साधक में आरम्भ से ही मैत्री और दया के भाव विशेषरूप से रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्था में भी उसके स्वभाव और व्यवहार में वे सहज ही पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त जैसे भगवान् में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्त में भी इनका रहना उचित ही है ।

प्रश्न–'निर्ममः' और 'निरहङ्कारः'—इन दोनों लक्षणों का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–इन लक्षणों से यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि भगवान् के ज्ञानी भक्त का सर्वत्र समभाव होता है, अतएव न तो उसकी किसी में ममता रहती है और न उसका अपने शरीर में अहङ्कार ही रहता है; तथापि बिना ही किसी प्रयोजन के वह समस्त भूतों से प्रेम रखता है और सब पर दया करता है। यही उसकी महत्ता है। भगवान् का साधक-भक्त भी दया और प्रेम तो कर सकता है, पर उसमें ममता और अहङ्कार का सर्वथा अभाव नहीं होता।

प्रश्न–'समदुःखसुखः' इस पद में आये हुए 'सुख-दुःख' शब्द हर्ष-शोक के वाचक हैं या अन्य किसी के और उनमें सम रहना क्या है ?

उत्तर–यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोक के वाचक नहीं हैं, किंतु उनके हेतुओं के वाचक हैं तथा इनसे उत्पन्न होने वाले विकारों का नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्यों की सुख में आसक्ति होती है, इस कारण सुख की प्राप्ति में उनको हर्ष होता है और दुःख में उनका

द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्ति में उनको शोक होता है, पर ज्ञानी भक्त का सुख और दुःख में सम-भाव हो जाने के कारण किसी भी अवस्था में उसके अन्तःकरण में हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुति में भी कहा है–'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् २। १२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकों को सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोग के अनुसार शरीर में रोग हो जाने पर उनको पीड़ारूप दुःख का बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहने से उसमें पीड़ा के अभाव का बोधरूप सुख भी होता है, किन्तु राग-द्वेष का अभाव होने के कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते, इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटना के संयोग-वियोग में किसी प्रकार से उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःख में सम रहना है।

प्रश्न–'क्षमावान्' किसे कहते हैं और ज्ञानी भक्तों को 'क्षमावान्' क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर–अपना अपकार करने वाले को किसी प्रकार का दण्ड देने की इच्छा न रख कर उसे अभय

देने वाले को 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान् के ज्ञानी भक्तों में क्षमाभाव भी असीम रहता है। उनकी सबमें भगवद्बुद्धि हो जाने के कारण वे किसी भी घटना को वास्तव में किसी का अपराध ही नहीं समझते, अतएव वे अपना अपराध करने वाले को भी बदले में किसी प्रकार का दण्ड नहीं देना चाहते। यही भाव दिखलाने के लिये उनको 'क्षमावान्' बतलाया गया है। क्षमा की व्याख्या दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में विस्तार से की गई है।

प्रश्न–यहाँ 'योगी' पद किसका वाचक है और उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना क्या है ?

उत्तर–भक्तियोग के द्वारा भगवान् को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्त का वाचक यहाँ 'योगी' पद है; ऐसा भक्त परमानन्द के अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही सन्तुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्था में संसार की किसी भी वस्तु के अभाव में असन्तोष का अनुभव नहीं होता। वह पूर्णकाम हो जाता है;अतएव संसार की किसी भी घटना से उसके सन्तोष का अभाव नहीं होता। यही उसका निरन्तर सन्तुष्ट रहना

है। संसारी मनुष्यों को जो सन्तोष होता है, वह क्षणिक होता है; जिस कामना की पूर्ति से उनको सन्तोष होता है, वह क्षणिक होता है; जिस कामनाकी पूर्ति से उनको सन्तोष होता है, उसकी कमी होते ही पुनः असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये वे सदा सन्तुष्ट नहीं रह सकते।

प्रश्न—'यतात्मा' का क्या अर्थ है, इसका प्रयोग किसलिये किया गया है ?

उत्तर—जिसका मन और इन्द्रियों के सहित शरीर जीता हुआ हो, उसे 'यतात्मा' कहते हैं। भगवान्‌के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वश में रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियों के वश में नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकार के दुर्गुण और दुराचार की सम्भावना नहीं होती। यही भाव दिखलाने के लिये इसका प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—'दृढनिश्चयः' पद किसका वाचक है ?

उत्तर—जिसने बुद्धि के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का भली-भाँति निश्चय कर लिया है; जिसे सर्वत्र

भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदि के कारण परमात्मा के स्वरूप से कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढ़निश्चय' कहते हैं।

प्रश्न—भगवान् में मन-बुद्धि का अर्पण करना क्या है ?

उत्तर—नित्य-निरन्तर मन से भगवान् के स्वरूप का चिन्तन और बुद्धि से उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धि का भगवान् के स्वरूप में सदा के लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्में अर्पण करना' है।

प्रश्न—वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है—इस कथन का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जिसका भगवान् में अहैतुक और अनन्य प्रेम है; जिसकी भगवान् के स्वरूपमें अटल स्थिति है; जिसका कभी भगवान् से वियोग नहीं होता; जिसके मन-बुद्धि भगवान् के अर्पित हैं; भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान् के ही हाथ की कठपुतली हैं—ऐसे ज्ञानी भक्त को भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

—※—

श्लोक-१५

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

पदच्छेद-

यस्मात् न उद्विजते लोकः लोकात् न उद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः यः सः च मे प्रियः ।।

शब्दार्थ :—

यस्मात्=जिससे, **लोकः**-कोई भी जीव, **न**, **उद्विजते**-उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, **च**-और, **यः**-जो (स्वयं भी), **लोकात्**-किसी जीव से, **न उद्विजते**-उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, **च**-तथा, **यः**-जो, **हर्ष-अमर्ष-भयोद्वेगै**-हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से, **मुक्तः**-रहित है—, **सः**-वह भक्त, **मे**-मुझको, **प्रियः**-प्रिय है।

अर्थ—

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता

और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।

—व्याख्या—

प्रश्न–जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता—इसका क्या अभिप्राय है ? भक्त जान-बूझकर किसी को उद्विग्न नहीं करता या उससे किसी को उद्वेग (क्षोभ) होता ही नहीं ?

उत्तर–सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होने के कारण भक्त जान-बूझ कर तो किसीको दुःख, सन्ताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सब की सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उस की ओर किसी को कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसी को उद्वेग होता है तो उसमें उसके अपने अज्ञानजनित राग-द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं। क्योंकि जो दया और प्रेम की मूर्ति है एवं दूसरों का हित करना ही जिसका स्वभाव है—वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसी के उद्वेग का कारण

हो ही नहीं सकता ।

प्रश्न–भक्तको दूसरे किसी प्राणीसे उद्वेग क्यों नहीं होता ? उसे कोई भी प्राणी दुःख देते ही नहीं या दुःखके हेतु प्राप्त होने पर भी उसे उद्वेग (क्षोभ) नहीं होता ?

उत्तर–भगवान्‌को प्राप्त ज्ञानी भक्तका सबमें समभाव हो जाता है; इस कारण वह जान-बूझकर अपनी ओर से ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिस से उसके साथ किसी का द्वेष हो । अतएव दूसरे लोग भी प्रायः उसे दुःख पहुँचाने वाली कोई चेष्टा नहीं करते । तथापि सर्वथा यह बात नहीं कही जा सकती कि दूसरे कोई प्राणी उसकी शारीरिक या मानसिक पीड़ाके कारण बन ही नहीं सकते । इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं परन्तु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःख की प्राप्ति में भी वह विचलित नहीं होता (३ । २२) इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता ।

प्रश्न–भक्तको उद्वेग नहीं होता, यह बात इस श्लोक के पूर्वार्द्धमें कह दी गयी; फिर उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेग से मुक्त होने के लिये कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छा-जनित उद्वेग की निवृत्ति तो हुई; किन्तु अनिच्छा और स्वेच्छा से प्राप्त घटना और पदार्थमें तो मनुष्य को उद्वेग होता है, इस लिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेग से मुक्त होने की बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

प्रश्न–हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कहने से भी भक्तकी निर्विकारता सिद्ध हो ही जाती है, फिर अमर्ष और भयसे मुक्त होने की बात क्यों कही गयी ?

उत्तर–हर्ष और उद्वेगसे मुक्त कह देनेसे निर्विकारता तो सिद्ध हो जाती है, पर समस्त विकारोंका अत्यन्त अभाव स्पष्ट नहीं होता। अतः भक्तमें सम्पूर्ण विकारों का अत्यन्त अभाव होता है, इस बातको

विशेष स्पष्ट करनेके लिये अमर्ष और भयका भी अभाव बतलाया गया ।

अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओं की प्राप्ति होने पर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपने से अधिक दूसरों को भी उन वस्तुओं की प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किन्तु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगों को उलटा अमर्ष होता है, और यह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है । वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थों की प्राप्ति होने पर उद्वेग; तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थों की प्राप्ति होने पर या उसकी आशङ्का से भय होता देखा जाता है । दूसरों की तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियों को भी होता है । किन्तु भगवान्के ज्ञानी भक्त की सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है और वह सम्पूर्ण क्रियाओं को भगवान् की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्त को न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता

है—यह भाव दिखलाने के लिये ऐसा कहा गया है।

—**—

श्लोक—१६

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

पदच्छेद—

अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यः मद्भक्तः सः मे प्रियः॥

शब्दार्थ—

अनपेक्षः—आकांक्षासे रहित, **शुचिः**—बाहर-भीतर से शुद्ध, **दक्षः**—चतुर, **उदासीनः**—पक्षपात से रहित; **गतव्यथ**—दुःखोंसे छूटा हुआ है; **सर्वारम्भपरित्यागी**—सब आरम्भों का त्यागी; **यः**—जो पुरुष; **मद्भक्तः**—मेरा भक्त; **सः**—वह **मे**—मुझको; **प्रियः**—प्रिय है।

अर्थ—

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से

शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखों से छूटा हुआ है—वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

—व्याख्या—

प्रश्न—आकांक्षासे रहित कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—परमात्मा को प्राप्त भक्त का किसी भी वस्तु से किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरह की किञ्चिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलाने के लिये उसे 'आकांक्षा से रहित' कहा है।

प्रश्न—इच्छा या आवश्यकताके बिना तो मनुष्य से किसी प्रकार भी क्रिया नहीं हो सकती और क्रिया के बिना जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं, फिर ऐसे भक्त का जीवन कैसे चलता है ?

उत्तर—बिना इच्छा और आवश्यकता के भी प्रारब्ध से क्रिया हो सकती है, अतएव उसका जीवन प्रारब्ध से चलता है। अभिप्राय यह कि उसके मन,

वाणी और शरीर से प्रारब्ध के अनुसार सम्पूर्ण क्रियायें बिना किसी इच्छा, स्पृहा और संकल्प के स्वाभाविक ही होती रहती हैं (४। १९); अतः उस के जीवन-निर्वाह में किसी तरह की अड़चन नहीं पड़ती।

प्रश्न–भगवान्‌का भक्त बाहर-भीतर से शुद्ध होता है; उसकी इस शुद्धि का क्या स्वरूप है?

उत्तर–भगवान् के भक्त में पवित्रता की पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उनके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होने पर तो कहना ही क्या है—उस के दर्शन और स्पर्शमात्र से ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके सङ्ग से वहाँ का वायु-मण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

प्रश्न–'दक्ष' शब्द का क्या भाव है?

उत्तर–जिस उद्देश्य की सफलता के लिये मनुष्य शरीर की प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्य को पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है। अनन्य भक्ति के द्वारा परम

प्रेमी, सबके सुहृत्, सर्वेश्वर परमेश्वरको प्राप्त कर लेना ही मनुष्य जन्म के प्रधान उद्देश्य को प्राप्त कर लेना है। ज्ञानी भक्त भगवान्‌को प्राप्त है, यह भाव दिखलाने के लिये उसको 'चतुर' कहा गया है।

प्रश्न—पक्षपात से रहित होना क्या है ?

उत्तर—न्यायालय में साक्षी देते समय अथवा पंच या न्यायकर्ता की हैसियतसे किसी के झगड़ेका फैसला करते समय या इस प्रकार का दूसरा कोई मौका आने पर अपने किसी कुटुम्बी, सम्बन्धी या मित्र आदि के लिहाजे से या द्वेष से अथवा अन्य किसी कारण से भी झूठी गवाही देना, न्यायविरुद्ध फैसला देना या अन्य किसी प्रकार से किसी को अनुचित लाभ-हानि पहुँचाने की चेष्टा करना पक्षपात है। इससे रहित होना ही पक्षपात से रहित होना है।

प्रश्न—भगवान् का भक्त सब प्रकार के दुःखों से रहित होता है, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मूलश्लोक में 'गतव्यथः' पद है। इससे भगवान् का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि किसी भी प्रकार के दुःख-हेतु के प्राप्त होने पर भी वह उससे

दुःखी नहीं होता, अर्थात् उसके अन्तःकरण में किसी तरह की चिन्ता, दुःख या शोक नहीं होता। भाव यह है कि शरीर में रोग आदि का होना, स्त्री-पुरुष आदि का वियोग होना और धन-गृह आदि की हानि होना—इत्यादि दुःखों के हेतु तो प्रारब्ध के अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परन्तु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

प्रश्न—'सर्वारम्भपरित्यागी' का क्या भाव है ?

उत्तर—संसार में जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान् की लीला है, सब उनकी मायाशक्ति का खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है इत्यादि। पर भगवान्‌का भक्त इस रहस्यको भली-भाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान् के हाथ की कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओर से कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टि

में सब कुछ करता हुआ भी वास्तव में कर्तापन के अभिमानसे रहित होने के कारण 'सर्वारम्भपरित्यागी' ही है।

—**—

श्लोक-१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।

पदच्छेद—

यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः सः मे प्रियः ।।

शब्दार्थ—

यः—जो, **न**—न (कभी), **हृष्यति**—हर्षित होता है; **न**—न; **द्वेष्टि**—द्वेष करता है; **न**—न; **शोचति**—शोक करता है; **न**—न; **कांक्षति**—कामना करता है; **शुभाशुभपरित्यागी**—शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है; **भक्तिमान्**—भक्तियुक्त पुरुष; **यः**—जो; **सः**—वह **मे**—मुझको; **प्रियः**—प्रिय है।

अर्थ—

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

—व्याख्या—

प्रश्न—कभी हर्षित न होना क्या है? और इस लक्षण से क्या भाव दिखलाया गया है?

उत्तर—इष्ट वस्तु की प्राप्ति में और अनिष्ट के वियोग में प्राणियोंको हर्ष हुआ करता है; अतः किसी भी वस्तु के संयोग-वियोग से अन्तःकरण में हर्ष का विकार न होना ही कभी हर्षित न होना है। ज्ञानी भक्तों से हर्ष रूप विकार का सर्वथा अभाव दिखलाने के लिये यहाँ इस लक्षण का वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि भक्त के लिये सर्वशक्तिमान्, सर्व-आधार, परम दयालु भगवान् ही परमप्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदा के लिये प्राप्त हैं। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्द में स्थित रहता है। संसार की किसी वस्तु में उसका किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं

होता। इस कारण लोकदृष्टि से होने वाले किसी प्रिय के संयोग से या अप्रिय के वियोग से उसके अन्तःकरण में कभी किञ्चिन्मात्र भी हर्ष का विकार नहीं होता।

प्रश्न—भगवान् का भक्त द्वेष नहीं करता, यह कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भगवान् का भक्त सम्पूर्ण जगत् को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणी में कभी किसी भी कारण से द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरण में द्वेषभाव का सदा के लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न-भगवान् का भक्त कभी शोक नहीं करता, इसका क्या भाव है ?

उत्तर-हर्ष की भाँति ही उसमें शोक का विकार भी नहीं होता। अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में और इष्ट के वियोग में प्राणियों को शोक हुआ करता है। भगवद्भक्त को लीलामय परम दयालु परमेश्वर की दया से भरे हुए किसी भी विधान में प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। भगवान् की लीला का रहस्य समझने के कारण वह हर समय उनके परमानन्द-

स्वरूप के अनुभव में मग्न रहता है, अतः उसे शोक कैसे हो सकता है ?

एक बात और भी है—सर्वव्यापी, सर्वाधार भगवान् ही उसके लिये सर्वोत्तम परमप्रिय वस्तु हैं और उनके साथ उसका कभी वियोग होता नहीं तथा साँसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति-विनाश में उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इस कारण भी लोकदृष्टि से होने वाले प्रिय वस्तुओं के वियोग से या अप्रिय के संयोगसे उसे किसी प्रकार का शोक नहीं हो सकता।

प्रश्न–भगवान् का भक्त कभी किसी वस्तु की भी आकांक्षा क्यों नहीं करता ?

उत्तर–मनुष्य के मन में जिन इष्ट वस्तुओं के अभाव का अनुभव होता है, वह उन्हीं वस्तुओं की आकांक्षा करता है। भगवान् के भक्त को साक्षात् भगवान् की प्राप्ति हो जाने के कारण वह सदा के लिये परमानन्द और परम शान्ति में स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मन में भी किसी वस्तु के अभाव का अनुभव होता ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण आवश्यकतायें नष्ट हो जाती हैं, वह अचल-प्रतिष्ठा में

स्थित हो जाता है; इसलिये उसके अन्तःकरण में साँसारिक वस्तुओं की आकांक्षा होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

प्रश्न–यहाँ 'शुभाशुभ' शब्द किन कर्मोंका वाचक है और भगवान् के भक्त को उनका परित्यागी कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर–यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रम के अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाह के लिये किये जाने वाले शास्त्रविहित कर्मों का वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्म का वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान् का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकार के कर्मों का त्यागी होता है, क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मन के द्वारा किये जाने वाले समस्त शुभ कर्मों को वह भगवान् के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म-कर्म ही नहीं माने जाते (४। २०) और राग-द्वेष का अभाव हो जाने के कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नही, इसलिये उसे 'शुभाशुभ' का परित्यागी कहा

गया है।

—**—

श्लोक-१८

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

पदच्छेद—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषुः समः सङ्गविवर्जितः॥

शब्दार्थ—

समः–सम है, **शत्रौ मित्रे**–शत्रु-मित्र में, **च**–और, **च**–और, **तथा**–तथा, **मानापमामयोः**–मान अपमान में, **शीतोष्ण-सुखदुःखेषु**–सर्दी, गर्मी और दुःखादि द्वन्द्वोंमें, **समः**–सम है, **सङ्गविवर्जितः**–आसक्ति से रहित है।

अर्थ—

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और

आसक्ति से रहित है।

-व्याख्या-

प्रश्न–भगवान्‌का भक्त तो किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करता, फिर उसका कोई शत्रु कैसे हो सकता है? ऐसी अवस्थामें वह शत्रु-मित्रमें सम है, यह कहने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर–अवश्य ही भक्त की दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखने के कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभाव का भी आरोप कर लेते हैं; ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावना के अनुसार उसमें मित्रभाव का आरोप कर लेते हैं। परन्तु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करने वाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका किञ्चित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान् का स्वरूप समझकर समभाव से सबकी सेवा करना ही

उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपने को काटने वाले और जल सींचने वाले दोनों की ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करने में किसी प्रकार का भेद नहीं करता—वैसे ही भक्तमें किसी तरह का भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्ष की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उस की दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

प्रश्न—मान-अपमान, शीत-उष्ण और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में सम कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होने से उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरह का किञ्चिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है, न अनुकूल को चाहता है और न प्रतिकूलसे द्वेष ही करता है। कभी किसी भी अवस्थामें वह अपनी स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होता। सर्वत्र भगवद्दर्शन होनेके कारण

उसके अन्तःकरणसे विषमता का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अभिप्रायसे उसे इन सब में सम रहने वाला कहा गया है।

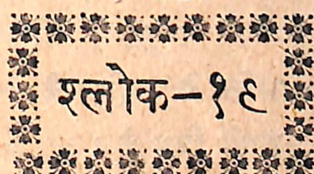
प्रश्न–'सङ्गविवर्जितः' का अर्थ संसारके संसर्गसे रहित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर–संसारमें मनुष्य की जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थों का मूल है; बाहरसे मनुष्य संसार का संसर्ग छोड़ भी दे, किन्तु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मन की आसक्ति नष्ट हो चुकने पर बाहर से राजा जनक आदि की तरह सब से ममता और आसक्ति रहित संसर्ग रहने पर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्ति का त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'सङ्ग-विवर्जित' है। दूसरे अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है। अतः 'सङ्गविवर्जितः' का जो अर्थ किया गया है, वही ठीक मालूम होता है।

प्रश्न–तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियों में भक्तका मित्रभाव होना बतलाया है और यहाँ सबमें आसक्ति रहित होनेके लिये कहते हैं। इन

दोनों बातों में विरोध-सा प्रतीत होता है। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—इसमें विरोध कुछ भी नहीं है। भगवद्भक्त का जो सब प्राणियोंमें मित्रभाव होता है—वह आसक्ति रहित, निर्दोष और विशुद्ध होता है। साँसारिक मनुष्योंका प्रेम आसक्तिके सम्बन्धसे होता है, इसीलिये यहाँ स्थूलदृष्टिसे विरोध-सा प्रतीत होता है, वास्तव में विरोध नहीं है। मैत्री सद्गुण है और यह भगवान् में भी रहती है, किन्तु आसक्ति दुर्गुण है और समस्त अवगुणों का मूल होनेके कारण त्याज्य है, वह भगवद्भक्तोंमें कैसे रह सकती है ?



श्लोक-१९

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

पदच्छेद—

तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी संतुष्टः येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियः नरः॥

शब्दार्थ–

तुल्यनिन्दास्तुतिः–निन्दा-स्तुतिको समान समझने वाला, **मौनी**–मननशील, **येन**–जिस, **केनचित्**–किसी प्रकार से भी (शरीर का निर्वाह होने में सदा ही), **संतुष्टः**–सन्तुष्ट है, **अनिकेतः**–रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है, **स्थिरमति**–स्थिरबुद्धि, **भक्तिमान्**–भक्तिमान्, **नरः**–पुरुष, **मे**–मुझको, **प्रियः**–प्रिय है।

अर्थ–

जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

—व्याख्या—

प्रश्न—भगवान् के भक्त का निन्दा-स्तुति को समान समझना क्या है ?

उत्तर—भगवान् के भक्त का अपने नाम और शरीर में किञ्चिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं

रहता इसलिये न तो उसको स्तुति से हर्ष होता है और न निन्दा से किसी प्रकार का शोक ही होता है। उसका दोनों में ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्-बुद्धि हो जाने के कारण स्तुति करने वालों और निन्दा करने वालों में भी उसकी ज़रा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुति को समान समझना है।

प्रश्न–'मौनी' पद न बोलने वाले का वाचक प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका अर्थ मननशील क्यों कहा गया है ?

उत्तर–मनुष्य केवल वाणी से ही नहीं बोलता, मन से भी बोलता रहता है। विषयों का अनवरत चिन्तन ही मन का निरन्तर बोलना है। भक्त का चित्त भगवान् में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान् के सिवा दूसरे की स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान् के ही मन में लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बन्द कर दिया जाये और मनसे विषयों का चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मन को निर्विषय करने तथा वाणी को परि-

शुद्ध और संयत बनाने के उद्देश्य से किया जाने वाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है। परन्तु यहाँ भगवान् के प्रिय भक्त के लक्षणों का वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है, इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणी का ही मौन है। बल्कि उस भक्त की वाणी से तो प्रायः निरन्तर भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत् का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्ति का प्रचार भी भक्तों द्वारा ही कराया करते हैं। अतः वाणी से मौन रहने वाला भगवान्‌का प्रिय भक्त होता है और बोलने वाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। अठारहवें अध्याय के अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकों में भगवान् ने गीता के प्रचार करने वाले को अपना सबसे प्रिय कार्य करने वाला कहा है; यह महत्कार्य वाणी के मौनी से नहीं हो सकता। इसके सिवा सतरहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में मानसिक तप के लक्षणों में भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान् को 'मौन' शब्द का अर्थ वाणी का मौन अभीष्ट होता, तो वे उसे वाणी के तप के प्रसङ्ग में कहते; परन्तु

ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभाव का नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वही मौनी या मननशील है। वाणी का मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इससे यह कोई विशेष महत्त्व की बात भी नहीं है; इससे यहाँ मौन शब्द का अर्थ वाणी का 'मौन' न मान कर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणी का संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

प्रश्न—'येन केनचित् संतुष्टः' का यहाँ क्या अभिप्राय है? क्या भगवान् के भक्त को शरीरनिर्वाह के लिये किसी तरह की चेष्टा नहीं करनी चाहिये—अपने-आप जो कुछ मिल जाये, उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिये?

उत्तर—जो भक्त अनन्यभाव से भगवान् के चिन्तन में लगा रहता है, दूसरे किसी भाव का जिसके चित्त में स्फुरण ही नहीं होता—उसके द्वारा शरीर-निर्वाह के लिये किसी चेष्टा का न होना और उसके लौकिक योगक्षेम का भी भगवान् के द्वारा ही वहन किया जाना सर्वथा सिद्ध और सुसङ्गत ही है; परन्तु यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्टः' से निष्कामभाव से वर्ण-

आश्रम अनुकूल शरीरनिर्वाह के उपयुक्त न्यायसङ्गत चेष्टा करने का निषेध नहीं है। ऐसी चेष्टा करने पर प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, भक्त उसी में सन्तुष्ट रहता है। 'येन केनचित् सन्तुष्टः' का यही भाव है। वस्तुतः भगवान् के भक्त का साँसारिक वस्तुओं के प्राप्त होने और नष्ट हो जाने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह तो अपने परम इष्ट भगवान् को पा कर सदा ही सन्तुष्ट रहता है। अतः यहाँ 'येन केनचित् सन्तुष्टः' का यही अभिप्राय मालूम होता है कि बाहरी वस्तुओं के आने-जाने से उसकी तुष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्ध-अनुसार सुख-दुःखादि के हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हीं में सन्तुष्ट रहता है।

प्रश्न—'अनिकेतः' पदका क्या अर्थ मानना चाहिये ?

उत्तर—जिसके अपना घर न हो, उसको 'अनिकेत' कहते हैं। भगवान् के जो संन्यासी ज्ञानी भक्त गृहस्थ-आश्रमको छोड़कर पूर्णरूप से मकान आदि का त्याग कर चुके हैं, जिनको किसी भी स्थान विशेष में आसक्ति, ममता अथवा किसी प्रकार का स्वत्व नहीं है वे तो 'अनिकेत' हैं ही; उनके सिवा जो अपना सर्वस्व

भगवान्‌के अर्पण करके सर्वथा अकिञ्चन बन चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्‌के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों वे भी 'अनिकेत' ही हैं। जैसे शरीर में अहंता, ममता और आसक्ति न होने पर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घर वाला—'अनिकेत' ही है।

प्रश्न—भक्तको 'स्थिरबुद्धि' कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—भक्तको भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाने के कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, भगवान्‌में उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्यों की भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्‌के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। इसीलिसे उसे 'स्थिरबुद्धि' कहा गया है। 'स्थिरबुद्धि' शब्दका विशेष अभिप्राय समझने के लिये दूसरे

अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोक तक की व्याख्या देखनी चाहिये।

प्रश्न–तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें तक सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए 'जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है,' 'जो ऐसा भक्तिमान् पुरुष है, वह मुझे प्रिय है, 'ऐसा पुरुष मुझे प्रिय है'—इस प्रकार पृथक्-पृथक् पाँच बार कहा है, इस का क्या भाव है ?

उत्तर–उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं और सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परन्तु स्वभाव आदि के भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणों में थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सब में सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभी में होती है तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसी में भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकों में पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागों में कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभी में मिलता हैं। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'सम-

दुःखसुखः' से हर्ष-शोक का अभाव बतलाया गया है। दूसरे में हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग का अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और हर्ष-शोक का अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरे में 'अनपेक्षः' से राग का, 'उदासीनः' से द्वेष का और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोक का अभाव बतलाया है। चौथे में 'न कांक्षति' से राग का, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका और 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभाग में 'सङ्ग-विवर्जितः' तथा 'सन्तुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोक का अभाव दिखलाया है। 'सन्तुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारों का अभाव और समता तथा शान्ति तो सभी में आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभावभेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेद के कारण भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणों को ही यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इन में से किसी एक विभाग के अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है।

प्रश्न–ये लक्षण सिद्ध पुरुषके हैं, या साधक के ?

उत्तर–विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ये लक्षण साधकके नहीं; प्रत्युत भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषोंके ही हैं; क्योंकि प्रथम तो भगवत्प्राप्तिके उपाय और फल बतलानेके बाद इन लक्षणों का वर्णन आया है। इस के अतिरिक्त चौदहवें अध्यायके बाईसवें से पचीसवें श्लोक तक भगवान्ने गुणातीत तत्त्वदर्शी महात्मा के जो लक्षण बतलाये हैं, उनसे ये मिलते-जुलते-से हैं, अतः ये साधकके लक्षण नहीं हो सकते।

प्रश्न–इन सबको 'भक्तियोग' के द्वारा 'भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण' बतलाने में क्या हेतु है ?

उत्तर–इस अध्यायमें भक्तियोगका वर्णन है, इसी से इसका नाम भी 'भक्तियोग' रक्खा गया है। अर्जुन का प्रश्न और भगवान्का उत्तर भी उपासनाविषयक ही है, तथा भगवान्ने 'यो मद्भक्तः सः मे प्रियः' 'भक्तिमान् यः स मे प्रियः' इत्यादि वाक्यों की आवृत्ति भी इसीलिये की है। अतः यहाँ यही समझना चाहिये कि जिन लोगोंने भक्तिमार्ग द्वारा परम सिद्धि प्राप्त की है, ये सब उन्हींके लक्षण हैं।

प्रश्न—कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्ग से परम सिद्धि को प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी क्या उन पुरुषोंमें कोई अन्तर नहीं रहता; है ?

उत्तर—उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किन्तु स्वभाव की भिन्नताके कारण आचरणों में कुछ भेद रह सकता है। 'सः चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (३ । ३३) इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तर-काल में भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारों का अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभी में समानभाव से पाये जाते हैं; किन्तु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए महापुरुषों में विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओं में विशेषरूपसे रहती हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियों

को संयमसे रखते हुए अनासक्त भावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान् को प्राप्त हुए पुरुषों में रहता है।

दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोक तक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं। और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोक तक भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

—**—

सम्बन्ध—

परमात्मा को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तों के लक्षण बतला कर अब उन लक्षणों को आदर्श मान कर बड़े प्रयत्न के साथ उनका भली-भाँति सेवन करने वाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तों की प्रशंसा करने के लिये उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतला कर भगवान् इस अध्याय का उपसंहार करते हैं—

श्लोक-२०

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।

पदच्छेद—

ये तु धर्म्यामृतम् इदम् यथा उक्तम् पर्युपासते ।
श्रद्दधानाः मत्परमाः भक्ताः ते अतीव मे प्रियाः ।।

शब्दार्थ—

तु—परन्तु, **ये**—जो, **श्रद्दधाना**—श्रद्धायुक्त पुरुष, **मत्परमाः**—मेरे परायण होकर, **इदम्**—इस, **यथाउक्तम्**—ऊपर कहे हुए, **धर्म्यामृतं**—धर्ममय अमृतको, **पर्युपासते**—निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, **ते**—वे, **भक्ताः**—भक्त, **मे**—मुझको, **अतीव**—अतिशय, **प्रियाः**—प्रिय हैं ।

अर्थ—

परन्तु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण हो कर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ।

—व्याख्या—

प्रश्न—यहाँ 'तु' पद के प्रयोग का क्या उद्देश्य है ?

उत्तर—तेरहवें से ले कर उन्नीसवें श्लोक तक भगवान् को प्राप्त सिद्ध भक्तों के लक्षणों का वर्णन है और इस श्लोक में उन उत्तम साधक भक्तों की प्रशंसा की गई है जो इन सिद्धों से भिन्न हैं; और सिद्ध भक्तों के इन लक्षणों को आदर्श मान कर उनका सेवन करते हैं। यही भेद दिखलाने के लिये 'तु' पद का प्रयोग किया है।

प्रश्न—श्रद्धायुक्त भगवत्परायण पुरुष किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान् के अवतारों में, वचनों में एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादि में जो प्रत्यक्ष के सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो—वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान् को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणों के आधार, सर्वस्व मान कर उन्हीं पर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहने वाले को भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

प्रश्न—**उपर्युक्त सात श्लोकोंमें वर्णित भगवद्भक्तों के लक्षणों को यहाँ धर्ममय अमृतके नामसे कहने का क्या अभिप्राय है ?**

उत्तर—भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्म का सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्य जन्म की सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। इस भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदाय का नाम 'धर्ममय अमृत' रक्खा गया है।

प्रश्न—**यहाँ 'पर्युपासते' का क्या अभिप्राय है ?**

उत्तर—भलीभाँति तत्पर होकर निष्काम प्रेमभाव से इन उपर्युक्त लक्षणोंका श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना यही 'पर्युपासते' का अभिप्राय है ?

प्रश्न—**पहले सात श्लोकोंमें भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तों के लक्षणोंका वर्णन करते हुए उनको तो भगवान्ने अपना 'प्रिय भक्त' बतलाया और इस श्लोकमें जो सिद्ध नहीं हैं, परन्तु इन लक्षणों की उपासना करने वाले साधक भक्त हैं—उनको 'अतिशय प्रिय' कहा, इसमें क्या रहस्य है ?**

उत्तर–जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान् की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं और भगवान्के साथ उनका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। परन्तु जिन एकनिष्ठ साधक भक्तोंको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान् पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्के अर्पण करके उन्हीं के परायण हो जाते हैं, तथा भगवान्के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हीं का निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वास पर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्व की बात है। इसीलिये भगवान्को वे विशेष प्रिय होते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंको भगवान् अपना नित्य सङ्ग प्रदान करके जबतक सन्तुष्ट नहीं कर देते, तबतक वे उनके ऋणी ही बने रहते हैं—ऐसी भगवान् की मान्यता है; अतएव भगवान् का उन्हें सिद्ध भक्तों की अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

(बारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ)

गीता-महिमा

(१)

"वास्तवमें श्रीमद्भगवत्गीता का माहात्म्य वाणी द्वारा वर्णन करने के लिये किसी का भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह एक परम रहस्य ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदों का सार-संग्रह किया गया है। इसका संस्कृत इतना सुन्दर और सरल है कि थोड़ा अभ्यास करने से मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है परन्तु इसका आशय इतना गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहने पर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, इससे वह सदा नवीन बना रहता है।"

(२)

'गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के विचार भरे हैं। यह ग्रन्थ इतना अमूल्य और आध्यात्मिक भावों से पूर्ण है कि मैं समय-समय पर परमात्मासे यह प्रार्थना करता आया हूँ कि वे मुझ पर इतनी दया करें और शक्ति प्रदान करें जिससे मैं मृत्युकालपर्यन्त इस सन्देश को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचा सकूँ।'

(३)

'गीता विवेकरूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है। यह सब सुखों की नींव है। सिद्धान्त-रत्नों का भण्डार है। नवरसरूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है। सब विद्याओं की मूल भूमि है। अशेष शास्त्रोंका आश्रय है। सब धर्मों की मातृ-भूमि है। सरस्वती के लावण्यरत्नों का भण्डार है। यह गीता ज्ञानामृत से भरी हुई गङ्गाजी है। विवेकरूपी क्षीर-सागर की नव-लक्ष्मी है।'

(४)

'रत्नाकर सागर में डुबकी लगाने वाला चाहे रत्नों से वञ्चित रह जाये, पर गीता दिव्य रसामृत

समुद्र में डुबकी लगाने वाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता।'

(५)

'गीता के अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करने से अनेकों ऋषियों को और अर्जुन, सञ्जय आदि गृहस्थियों को उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावों को सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पद की प्राप्ति हुई एवं महात्मा गान्धी, लोकमान्य तिलक आदि को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः गीता के अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करने से मनुष्य को इस लोक और परलोकमें श्रेय की प्राप्ति होती है।'

(६)

'गीता का उपदेश बहुत ही उच्चकोटि का है। गीता में सब से ऊँचा ज्ञान, सब से ऊँची भक्ति और सब से ऊँचा निष्काम भाव भरा हुआ है। गीता के उपदेश को सुन कर मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक ही यह प्रभाव पड़ता है कि यह मनुष्य रचित नहीं है।''

(७)

'गीता मनुष्य को नीचे-से-नीचे स्थान से उठाकर ऊँचे-से-ऊँचे परमपद पर आरूढ़ कराने वाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिंता, संशय और शोक में मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता, उस समय गीता के श्लोकों के अर्थ और भाव पर लक्ष्य करने से वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्ति को प्राप्त हो जाता है।'

(८)

अर्थ और भाव को समझ कर गीता का अभ्यास करने पर अन्य शास्त्रोंके अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। महर्षि भगवान् श्रीवेदव्यासजी ने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

—अर्थात्—

"गीता का ही भली-भाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भली-भाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रों के

विस्तार की क्या आवश्यकता है क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान् के साक्षात् मुख-कमल से निकली हुई है।" यहाँ 'पद्मनाभ' शब्द का प्रयोग कर के श्री वेदव्यासजी ने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान् के मुखकमल से निकली है, जिनके नाभिकमल से ब्रह्माजी प्रगट हुए और ब्रह्माजी के मुख से वेद प्रगट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रों के मूल हैं। अतः संसार में जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रों का सार गीता है—सर्वशास्त्रमयी गीता।"

(६)

गीता मनुष्यके सम्मुख वह उच्च-अति उच्च श्रेष्ठतम आदर्श रखती है जिसके प्राप्त करने से मनुष्य समस्त सीमाओं से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक अमरत्वकी शान्ति और आनन्द में मग्न हो जाता है।

(१०)

"श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्डब्रह्माण्ड ज्ञानसहित आत्म-विद्या में गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़ेमें और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्त्वोंके आधार

पर मनुष्यमात्र के पुरुषार्थ को अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल करा के इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसार के दुःखित मनुष्य को शान्ति दे कर उसे निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगाने वाले गीता के समान बालबोध ग्रन्थ संस्कृत की तो बात ही क्या, समस्त संसारके साहित्यों में नहीं मिल सकता। इसमें आत्म-ज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं कि वे बूढ़ों और बच्चों को एक समान सुगम हैं और इसमें ज्ञानयुक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रन्थ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी से संगृहीत किया गया है, उसकी योग्यता का वर्णन कैसे किया जाये।"

(११)

"मेरा विश्वास है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्तिसम्पन्न पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। मेरा दूसरा विश्वास यह है कि पृथ्वी-मण्डल की प्रचलित भाषाओंमें उन भगवान्

श्रीकृष्ण की कही हुई भगवद्गीता के समान छोटे वपुमें इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।"

(१२)

"गीता का सन्देश सारे विश्व के लिये है। किसी भी देश, जाति या समाजमें कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके लिये गीता में कोई लाभप्रद सन्देश न हो। सकल वेद-शास्त्र-पारङ्गत पण्डित से ले कर निपट निरक्षर मूर्ख तक, चक्रवर्ती समाट् से ले कर घास-फूँस की झोंपड़ी में रह कर दिन काटने वाले अकिञ्चन तक तथा इस मायामय संसार से पूर्णतः विरक्त रहने वाले ज्ञानी पुरुषों से ले कर इसी में आमूल-चूल अनुरक्त कामुकों तक बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—सभी के लिये गीता में अमूल्य सन्देश भरे पड़े हैं।"

(१३)

"जब-जब सङ्कट पड़ते हैं तब-तब सङ्कट टलानेके लिये हम गीता के पास दौड़े जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीता को इस दृष्टि से पढ़ना है वह हमारे लिये सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें

विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोद में सिर रखने से हम सही-सलामत रहेंगे । गीताके द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे, इस विधि से जो रोज गीता का मनन करेगा, उसे उसमें नित्य नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके।"

(१४)

गीता कामधेनु की भाँति है, जो सारी इच्छाओं को पूरा करती है। अतः वह माता कहलाती है।"

(१५)

"मेरे विचार से गीता का मुख्य तात्पर्य ज्ञान में है, कर्म या भक्ति में नहीं । गीता में इनका जो वर्णन किया गया है, वह गौणरूप से है, मुख्यतः नहीं । वस्तुतः तो भगवान् ने अर्जुन को तत्त्वज्ञान देनेके लिये ही गीता उपदेश किया था। अर्जुनको मोह हुआ था। मोह की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है। अतः भगवान्ने गीता के द्वारा अर्जुन को ज्ञान का ही उपदेश किया है।"

—**—



'भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग—कौन-सा ऐसा मार्ग है जिसका पथिक गीता को अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते नहीं देखता ? गीता के सन्देश को सुन कर दुर्बल मन अज्ञान के पाश तो तोड़ कर प्रकाश में आ खड़ा होता है, उस की भीति, भ्रम और संशय नष्ट हो कर उसमें अभयता, स्पष्टता और अमरत्व का प्रादुर्भाव होता है।'

'भगवान् के पथ में चलने वाले साधक के लिये साधनक्रम में जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, उन का निदर्शन गीता में जैसा हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ।'

"मनुष्य सर्व हित के लिये किस प्रकार कर्म-फल का त्याग करे, यह आवश्यक उपदेश करना गीता का काम है।"

—✻✻—

गीता-महिमा

'गीता मुक्त जीवन का जीता-जागता अमर गीत है। जीवन को सत्य सेवा, जन-हित या तप, यज्ञ और पूजन की ओर मोड़ना गीता का महाकार्य है। जो इस ओर मुड़ जाता है वही मुक्ति पाता है। विराट् विश्व में अपने-आपको मिला देना मुक्ति का सीधा उपाय है। गीता के कर्म, भक्ति और ज्ञान की साधना जीवन को विराट् और व्यापक बनाने में सफल होती है। पुरुष जब पुरुषोत्तम का आलिङ्गन कर के बिन्दु से सिन्धु बन जाता है तभी वह सच्चे अर्थों में जीवन्मुक्त होता है और तब उसके मन, वचन और कर्म से स्वाभाविक सङ्गीत निकलता है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥'

गीता—७/७

—❋❋—

